सन्दर्भ-समूह की अवधारणा
(Concept of Reference Group)

'सन्दर्भ-समूह' का सर्वप्रथम प्रयोग सन् 1942 में हाईमेन ने किया था। सन्दर्भ-समूह की अवधारणा हमारे लिए विशेष रूप से उपयोगी है क्योंकि इसका सम्बन्ध सदस्यों के मनोविज्ञान से होता है। इस मानसिक आधार को समझने के लिए हमें इस विषय की कुछ गहराई में जाना पड़ेगा। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए दो प्रकार के समूहों का उल्लेख किया जा सकता है और वे हैं—(1) सदस्यता-समूह, (2) सन्दर्भ-समूह। व्यक्ति जिस समूह का वास्तव में सदस्य होता है और जिस समूह को 'अपना समूह' मानकर उसके प्रकार्यों में सक्रिय भाग लेता है उसे तो सदस्यता-समूह कहते हैं। पर व्यावहारिक तौर पर ऐसा भी देखा जाता है कि वह मनोवैज्ञानिक तौर पर अपना सम्बन्ध ऐसे समूह से भी बनाए रखता है और उसके आदर्श-नियमों, मूल्यों आदि को अपने आचरण में सम्मिलित करता है जिसका कि वह वास्तविक रूप में सदस्य नहीं है। ऐसे समूहों को ही सन्दर्भ-समूह कहते हैं। यह एक व्यक्ति का सन्दर्भ-समूह इस अर्थ में है कि इसी के सन्दर्भ में वह व्यक्ति अपने आचरणों, विचारों तथा मनोवृत्तियों को काफी हद तक ढालता है, यद्यपि वास्तव में वह इस समूह का सदस्य नहीं है। यह सन्दर्भ-समूह इस अर्थ में भी है कि इसी सन्दर्भ में हम व्यक्ति के व्यवहार, मनोवृत्ति, विचार, मूल्य, आदर्श का एक यथार्थ तथा व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। यह बात **मर्टन** द्वारा प्रस्तुत सन्दर्भ-समूह की निम्नलिखित विवेचना से और भी स्पष्ट हो जाएगी।

अमेरिकन सैनिकों के एक विस्तृत अध्ययन के आधार पर लिखित *The American Soldier* नामक कृति में **मर्टन** तथा **रोसी** ने सन्दर्भ-समूह की अवधारणा को समझाने का प्रयत्न किया है। इस सम्बन्ध में उनका निष्कर्ष यह है कि एक व्यक्ति का सन्दर्भ-समूह उसका अपना अन्तःसमूह अर्थात् वह समूह हो सकता है कि जिसका कि वह वास्तव में सदस्य और वह बाह्य-समूह भी हो सकता है जिसका कि वह सदस्य नहीं है। प्रथम अवस्था में अन्तःसमूह (in-group) या अपने ही समूह के सदस्य निर्देश-तन्त्र का कार्य करते हैं जबकि दूसरी अवस्था में बाह्य-समूह अथवा दूसरे समूह के सदस्य इस निर्देश तन्त्र के लिए चने जाते हैं। अतः **मर्टन** के अनुसार सन्दर्भ-समूह का सिद्धान्त हमें यह बताता है कि व्यक्ति अन्तःसमूह अथवा बाह्य-समूह को किस प्रकार अपने व्यवहार का निर्देशक मानने लगता है और उस समूह से अपना सन्दर्भ स्थापित कर लेता है। अपने उपरोक्त अध्ययन के आधार पर सन्दर्भ-समूह से सम्बन्धित अपने विचारों या निष्कर्षों को **मर्टन** ने निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है—

1. **अन्तःसमूह या सदस्यता-समूह सन्दर्भ-समूह के रूप में** (Membership group as a reference group)—यह देखा जाता है कि बहुधा एक व्यक्ति अपने ही समूह के उन दूसरे व्यक्तियों के उप-समूह को अपना सन्दर्भ-समूह मानने लगता है जिनकी कि उपलब्धियाँ अधिक हैं अर्थात् जो जीवन में अधिक सफल हैं। उदाहरणार्थ, अपने ही समूह के उन सैनिकों को उसी समूह के अन्य सैनिक सन्दर्भ-समूह के रूप में स्वीकार कर सकते हैं जिन्हें कि वीरता के पुरस्कार मिले हैं।

2. **गैर-सदस्यता समूह** (Non-membership group)—**मर्टन** का मत है कि यह जरूरी नहीं है कि कोई व्यक्ति केवल उसी समूह का सदस्य हो जिसका वह सदस्य है। वह उस समूह का भी सदस्य हो सकता है जिसका कि वह सदस्य नहीं है। **मर्टन** के अनुसार जिन समूहों के हम वास्तव में सदस्य नहीं होते और जिनके सदस्यों के साथ हम किसी प्रकार की अन्तःक्रिया नहीं करते, तो भी वह समूह हमारे व्यवहारों, आदर्शों तथा मूल्यों को प्रभावित करते व अपने अनुरूप ढालते हैं तो वह गैर-सदस्यता समूह भी हमारे लिए सन्दर्भ-समूह होगा।

3. **सन्दर्भ-व्यक्ति या समूह का चुनाव** (Selection of reference individual of group)—**मर्टन** के अनुसार एक व्यक्ति के द्वारा अपने सन्दर्भ के रूप में केवल समूह को ही नहीं अपितु व्यक्ति को भी चुना जा सकता है। इन दोनों का चुनाव कैसे किया जाता है उसे **मर्टन** ने इस प्रकार समझाया है—

(अ) **सन्दर्भ-व्यक्ति का चुनाव** आदर्श भूमिका के आधार पर किया जाता है। ऐसा होता है कि एक व्यक्ति को किसी दूसरे व्यक्ति की कुछ भूमिकाएँ अच्छी लगती हैं और वह उन्हें न केवल आदर्श मानने लगता है अपितु उन भूमिकाओं को अपने जीवन में भी निखारने का प्रयत्न करता है। उदाहरणार्थ, एक विद्यार्थी को अपने किसी शिक्षक का पढ़ने का ढंग व विद्यार्थियों के साथ व्यवहार करने का ढंग अच्छा लगता है तो आगे चलकर शिक्षक का पेशा अपनाने पर वह विद्यार्थी उसी शिक्षक को अपना सन्दर्भ-व्यक्ति

मान लेता है और शिक्षक के रूप में उसके आचरणों व भूमिकाओं को अपने जीवन में भी निखारने का प्रयत्न करता है।

(ब) **सन्दर्भ-समूह का चुनाव** सामाजिक जीवन में अपने को अधिक प्रतिष्ठित देखने की इच्छा से प्रेरित होता है। व्यक्ति की यह अभिलाषा होती है कि वह सामाजिक सीढ़ी में ऊपर की ओर जाए। इसके लिए एक आधार की आवश्यकता होती है। अतः वह किसी ऐसे समूह को चुन लेता है जोकि उसकी निगाह में आदर्श व अधिक प्रतिष्ठा-सम्पन्न है। इसी से यह स्पष्ट है कि सामाजिक प्रतिष्ठा पाने की इच्छा व्यक्ति को उस दूसरे समूह का चुनाव करने की प्रेरणा देती है जिसका कि वह सदस्य नहीं है।

4. **दूसरे विशिष्ट** (Significant others)—**मर्टन** का कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति के सामने कुछ दूसरे प्रतिष्ठित समझे जाने वाले लोगों की प्रतिमा होती है जिन्हें कि हम 'दूसरे विशिष्ट' कह सकते हैं। ये लोग उस व्यक्ति की निगाहों में आदर्श होते हैं और इसीलिए वह इन व्यक्तियों के साथ समरूपता स्थापित करना चाहता है अर्थात् उन 'दूसरे विशिष्ट' व्यक्तियों जैसा बनना चाहता है। यही कारण है कि इन व्यक्तियों में वह स्वयं अपनी प्रतिमा तथा स्वयं अपने मूल्यांकन का प्रतिबिम्ब देखता है; उनके मूल्यों, आदर्शों तथा आचरणों को ग्रहण करता है ताकि उन दूसरे विशिष्टों की भाँति वह स्वयं भी 'विशिष्ट' बन सके। यही कारण है कि निम्न समूह के लोग उच्च समूह को प्रभावशाली व प्रतिष्ठा वाले समूह के रूप में न केवल देखते हैं अपितु उनके मूल्यों, आदर्शों तथा आचरणों को ग्रहण करते हुए सामाजिक सीढ़ी में ऊपर चढ़कर उस उच्च समूह के पास पहुँचने का भी प्रयत्न करते हैं।

5. **सकारात्मक व नकारात्मक सन्दर्भ-समूह** (Positive and negative reference group)—**मर्टन** के अनुसार सन्दर्भ-समूह सकारात्मक हो सकते हैं और नकारात्मक भी। अर्थात् सन्दर्भ-समूह का व्यक्ति पर प्रभाव सदा स्वस्थ ही होगा ऐसी बात नहीं है। एक व्यक्ति अपने सन्दर्भ-समूह के रूप में ऐसे समूह को भी चुन सकता है जिसका कि प्रभाव व्यक्ति पर नकारात्मक हो।

6. **बहुत सन्दर्भ-समूह** (Multiple reference group)—इसके अन्तर्गत **मर्टन** ने दो प्रकार के सन्दर्भ-समूहों का उल्लेख किया है—

(i) **परस्पर विरोधी सन्दर्भ-समूह** (Conflicting reference group)—कभी-कभी व्यक्ति के जीवन में एकाधिक परस्पर विरोधी सन्दर्भ-समूह आ जाते हैं और उस अवस्था में उसके सामने यह समस्या होती है कि वह उनमें से किसको चुने अथवा किस समूह को अपना आदर्श माने। ऐसी स्थिति में व्यक्ति बहुधा परिस्थिति की समानता से प्रभावित होता है और उस समूह को अपना सन्दर्भ-समूह नहीं मानता है जोकि उसे लिए पूर्णतया अनजाना और भिन्न परिस्थिति वाला है।

(ii) **निरन्तर सम्पर्क वाले सन्दर्भ-समूह** (Mutually sustaining reference group)—**मर्टन** का निष्कर्ष यह है कि जिस आयु-समूह अथवा वैवाहिक स्थिति या

शैक्षिक स्तर वाले समूह के निरन्तर सम्पर्क में व्यक्ति रहता है उसी के अनुसार उसकी मनोवृत्तियाँ ढलने लगती हैं और उसी को वह अपना सन्दर्भ-समूह मान लेता है। **मर्टन** की मान्यता यह है कि जिस समूह के साथ व्यक्ति का सामाजिक सम्बन्ध जितना निरन्तर व दीर्घ होगा वही समूह उस व्यक्ति के जीवन को अधिक प्रभावित भी करेगा।

7. समरूपता और असमता (Conformity and non-conformity)—**मर्टन** का कथन है कि सन्दर्भ-समूह का अपना एक प्रकार्यात्मक महत्त्व यह है कि वह व्यक्ति को उसके साथ समरूपता स्थापित करने को प्रेरित करता है जिसके फलस्वरूप उस व्यक्ति का व्यवहार, आदर्श व मूल्य उस समूह के मूल्य, आदर्श तथा आचरणों से भिन्न हो जाता है जिसका कि वह वास्तव में सदस्य है अर्थात् उसकी अपने समूह से असमता उत्पन्न हो जाती है। परन्तु उसका ऐसा करना अर्थात् सन्दर्भ-समूह से समरूपता और अपने समूह से असमता स्थापित करना उसी सीमा तक वांछनीय समझा जाएगा, जहाँ तक वह सामाजिक व्यवस्था के लिए अकार्यात्मक न हो। पर यह आवश्यक नहीं है कि उस समूह के साथ जिसका कि वह सदस्य नहीं है समरूपता स्थापित करना ही अकार्यात्मक हो। यह बहुत-कुछ इस बात पर निर्भर करेगा कि उसके ऐसा करने से उसके अपने समूह के स्थापित मूल्यों को कितनी ठेस पहुँचेगी।

8. सन्दर्भ-समूह के प्रकार्यात्मक पक्ष (Functional aspects of reference group)—**मर्टन** ने सन्दर्भ-समूह के कुछ निश्चित प्रकार्यों का भी उल्लेख किया है। सन्दर्भ-समूह व्यक्ति को उसके (उस समूह के) साथ समरूपता स्थापित करने की प्रेरणा देता रहता है जिसके कारण व्यक्ति अपने सन्दर्भ-समूह के मूल्यों, आदर्शों तथा आचरणों को अपने जीवन में उतारने के लिए प्रयत्नशील होता है। इसके फलस्वरूप व्यक्ति के व्यक्तित्व में न केवल अनेक नए मूल्य, आदर्श, व्यवहार-प्रतिमान, विचार, प्रतिमाएँ आदि सम्मिलित हो जाते हैं अपितु यह सम्भावना भी रहती है कि उसकी सामाजिक स्थिति भी ऊँची उठ सकेगी। इस प्रकार **मर्टन** के अनुसार, व्यक्ति का प्रत्याशित सामाजीकरण की दिशा में सन्दर्भ-समूह का प्रकार्य उल्लेखनीय है। परन्तु यह प्रत्याशित सामाजीकरण केवल मुक्त सामाजिक संरचना में ही प्रकार्य के रूप में होता है, बन्द सामाजिक संरचना में यह अकार्य का रूप धारण कर लेता है क्योंकि ऐसे समाज परम्परागत नियमों, आदर्शों तथा मूल्यों के द्वारा आबद्ध होने के कारण एक समूह के सदस्य द्वारा अपने समूह के मूल्यों व व्यवहारों को त्यागकर दूसरे समूह के मूल्यों व व्यवहारों को अपनाना बुरा माना जाता है और उसका विरोध भी किया जाता है। ऐसी स्थिति में सामाजिक जीवन में तनाव व विघटन की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। अतः दूसरे समूह के मूल्यों व व्यवहारों को अपनाने के बाद भी व्यक्ति के लिए अपनी आकांक्षाओं को पूरा करना सम्भव नहीं होता।

इस सन्दर्भ में **मर्टन** ने हमारा ध्यान इस सत्य की ओर आकर्षित किया है कि जिस अनुपात में एक व्यक्ति दूसरे समूह (सन्दर्भ-समूह) के मूल्यों, आदर्शों व आचरणों के साथ अपनी समरूपता स्थापित करता है, उसी अनुपात में वह अपने समूह के मूल्यों

तथा आचरणों से दूर होता जाता है। और यदि उसके अपने समूह के अन्य सदस्य इस बात को पसन्द नहीं करते तो उस व्यक्ति व शेष समूह के बीच सामाजिक सम्बन्ध बिगड़ने लगते हैं और कभी-कभी तो यह खुले संघर्ष का रूप धारणा कर लेता है। उस अवस्था में अगर व्यक्ति लौटकर अपने ही समूह के मूल्यों व आचरणों को फिर से अपनाना चाहे तो भी उसे ऐसा करने का अवसर नहीं दिया जाता। अतः दूसरे समूह के मूल्यों व आचरणों को अपनाने की प्रक्रिया एक बार शुरू हो जाने पर वह संचित होती चली जाती है और व्यक्ति अपनी मनोवृत्तियाँ, मूल्यों तथा सामाजिक सम्बन्धों के क्षेत्र में अपने समूह से धीरे-धीरे अलग होता जाता है, यहाँ तक कि अन्त में वह अपने समूह से बिल्कुल विच्छिन्न हो जाता है और सन्दर्भ-समूह को ही पूर्णतया स्वीकार कर लेता है। ऐसा विशेषकर उस अवस्था में होता है जबकि उसका अपना समूह पुनः उसे अपने सदस्य के रूप में ग्रहण करने से इनकार कर देता है।